

लोक साहित्य के ऐतिहासिक एवं सामाजिक सरोकार

सारांश

लोक के लिये लोक द्वारा रचा गया साहित्य 'लोक साहित्य' है, जिसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना वाचिक रूप में संरक्षित रहती है। "लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता और जिसमें लोक युग की वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिये अत्यन्त सहज और स्वाभाविक होता है।" इसलिये लोक-संस्कृति के अध्येता, शोधार्थी और लोक-संस्कृति प्रेमी, लोक-साहित्य का मुँह देखते हैं, जो अनुचित भी नहीं है, क्योंकि लोक साहित्य, लोक-संस्कृति का प्रवेग द्वार ही तो है। समझने की गरज यह कि लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति का पर्याय नहीं है, बल्कि अंगी है, लोक-संस्कृति अंग है। इसलिये लोक साहित्य और लोक-संस्कृति का जो सम्बन्ध है, वह अन्योन्याश्रित है। दोनों एक-दूसरे के बिना दिव्यांग (अपंग) है। ऐसा इसलिये कि लोक-साहित्य में लोक-संस्कृति की हर एक आहट, अकलाहट, संघर्ष, संवेदना और सौन्दर्य मौजूद रहता है और चूंकि लोक-साहित्य का रचयिता स्वयं लोक होता है, इसलिये लोक साहित्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध बनी रहती है और ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी। इसलिये साहित्य और लोक साहित्य के साथ-साथ संस्कृति और लोक संस्कृति का सम्यक विवेचन जरूरी हो जाता है।



गंगाधर ढोके

सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग,
शासकीय महाविद्यालय,
बिरसिंहपुर, उमरिया

मुख्य शब्द : लोक संस्कृति, लोक साहित्य, फोकलोर।

प्रस्तावना

लोक के लिये लोक द्वारा रचा गया साहित्य 'लोक साहित्य' है, जिसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना वाचिक रूप में संरक्षित रहती है। "लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता और जिसमें लोक युग की वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिये अत्यन्त सहज और स्वाभाविक होता है।" इसलिये लोक-संस्कृति के अध्येता, शोधार्थी और लोक-संस्कृति प्रेमी, लोक-साहित्य का मुँह देखते हैं, जो अनुचित भी नहीं है, क्योंकि लोक साहित्य, लोक-संस्कृति का प्रवेग द्वार ही तो है। समझने की गरज यह कि लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति का पर्याय नहीं है, बल्कि अंगी है, लोक-संस्कृति अंग है। इसलिये लोक साहित्य और लोक-संस्कृति का जो सम्बन्ध है, वह अन्योन्याश्रित है। दोनों एक-दूसरे के बिना दिव्यांग (अपंग) है। ऐसा इसलिये कि लोक-साहित्य में लोक-संस्कृति की हर एक आहट, अकुलाहट, संघर्ष, संवेदना, और सौन्दर्य मौजूद रहता है और चूंकि लोक-साहित्य का रचयिता स्वयं लोक होता है, इसलिये लोक साहित्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध बनी रहती है और ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी। इसलिये साहित्य और लोक साहित्य के साथ-साथ संस्कृति और लोक संस्कृति का सम्यक विवेचन जरूरी हो जाता है।

उद्देश्य

उत्तर संरचनावादी चिन्तक जॉक देरिदा के विखण्डनवाद के अनुसार राष्ट्र, संस्था, परम्परा, विवास, सब पाठ है, और जिनका कोई निश्चित अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विखण्डनवाद किसी भी पाठ के भीतर छिपे हुए उन प्रतिवादी स्वरों को सुनना चाहता है, जो निश्चित अर्थवत्ता के कारण ढांचे में कसमसाते रहते हैं। स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में विखण्डनवाद की स्वीकृति के पश्चात् अन्य पाठों के साथ-साथ लोक साहित्य में वर्णित गीतों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों आदि की अर्थवत्ता भी वहीं तक सीमित नहीं है, जो अब तक कही गई या बतायी जाती रही है। प्रस्तुत आलेख इसी गुत्थी को समझने का विनम्र प्रयास है।

‘संस्कृति’ शब्द की तरह ही ‘लोक-संस्कृति’ ‘फोकलोर’ शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। सन् 1846 में सर्वप्रथम विलियम टाम्स ने ‘फोकलोर’ शब्द का निर्माण किया था। इससे पहले इस शब्द के लिये लोकप्रिय पुरातत्व सामग्री (PopularAntiquities) अथवा लोकप्रिय साहित्य (Popular Literature) शब्दों का प्रयोग किया जाता था। “सन् 1946 ई0 में विलियम टाम्स ने एम्ब्रोज मर्टन के छद्म नाम से ‘एथोनियम’ नामक पत्रिका में एक पत्र प्रकाशित किया, जिसमें उसने यह प्रस्ताव किया था कि ‘फोकलोर-जो एक सुन्दर सेक्सन समसित शब्द है- का प्रयोग -लोकप्रिय पुरातत्व सामग्री’ शब्द के लिये किया जाना चाहिए। टाम्स ने फोकलोर के अन्तर्गत रीति, प्रथा, विधि-विधान, अन्धविवास, लोक-साहित्य, लोकगाथा तथा लोकोक्ति आदि का अन्तर्भाव स्वीकार किया था।”² टाम्स सर, ने फोकलोर शब्द की व्याख्या करते हुए इसे सर्वसाधारण जनता का ज्ञान (The lore of the people) बतलाया है। इस प्रकार कालान्तर में ‘फोकलोर’ शब्द इतना लोकप्रिय हुआ कि जर्मनी को छोड़कर प्रायः सभी देशों के विद्वानों ने रीति-रिवाज, लोक-विवास, प्रथा तथा लोक साहित्य के अध्ययन के लिये इसी ‘फोकलोर’ शब्द का निःसंकोच स्वीकार कर लिया और आज प्रायः सभी देशों में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जा रहा है। मात्र जर्मन में ‘फोकलोर’ के लिये ‘फोल्क्स कुण्डे’ का प्रयोग किया जाता है।

‘फोकलोर’ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है-फोक और लोर। “डॉ० बार्कर ने ‘फोक’ शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ‘फोक’ शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है। परन्तु यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाये तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं। लेकिन ‘फोकलोर’ के सन्दर्भ में ‘फोक’ शब्द का अर्थ ‘असंस्कृत’ लोग है। अंग्रेजी ‘फोक’ के लिये इसी अर्थ में हिन्दी में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। दूसरा शब्द ‘लोर’ है जो एंग्लो सैक्सन ‘लर’ शब्द से निकला हुआ है, जिसका अर्थ ‘नॉलेज’ (ज्ञान) अथवा लर्निंग (विद्या) होता है। इस प्रकार ‘फोकलोर’ का अर्थ हुआ ‘सामान्य जनता का ज्ञान अथवा विद्या।’³ इस प्रकार लोक संस्कृति (फोकलोर) जन (लोक) का अनुभूतिजन्य शाश्वत ज्ञान है, जो लोक के लोक साहित्य (लोक कला, लोकगाथा, लोकनाट्य आदि) में अभिव्यक्त होता है।

जहां तक भारतीय वाग्दमय में ‘लोक’ शब्द पर विचार का प्रश्न है। डॉ० बलदेव उपाध्यायजी -सिद्धान्त कौमुदी को आधार बनाकर ‘लोक’ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के ‘लोक द’नि धातु से ‘घञ’ प्रत्यय से मानते हैं। जिसका अर्थ ‘देखना’ होता है। इस प्रकार ‘लोक’ शब्द का अर्थ हुआ ‘देखने वाला’। अर्थात् वह समस्त जनसमुदाय जो इस कार्य को करता है -‘लोक’ है। पुरातनता की दृष्टि से वैदिक साहित्य में ‘लोक’ शब्द सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुष सुक्त में आया है। ‘नाभ्या आसीदन्तरिक्षं, शीर्ष्णां द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिः दि’ः श्रोत्रात् तथा लोकानकल्पयत्।⁴ कहीं-कहीं ‘लोक’ के स्थान पर ‘जन’ शब्द का प्रयोग भी मिलता है। संस्कृत साहित्य में महर्षि पाणिनी ‘अष्टाध्यायी’ में, पतंजलि, महर्षि व्यास महाभारत में भी ‘लोक’, ‘सर्वलोक; शब्दों का प्रयोग

किया है। हिन्दी के ‘लोक’ शब्द की जन्मस्थली भी यही ही विलोपित करें। हिन्दी के विद्वानों में हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि -“लोक शब्द का अर्थ -जनपद’ या ‘ग्राम्य’ नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा ससुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा, अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उन्हें उत्पन्न करते हैं।”⁵ इस प्रकार लोक साहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य और अहंकार से मुक्त होता है और जिसमें लोक संस्कृति अपने पूरे कुनबे के साथ जीवन्त रहती है। भक्तिकालीन प्रगतिशील महाकवि कबीर के शब्दों में ‘तु कहता कागद की लेखो, मैं कहता आंखन देखी’, इसी सार्वभौमिक सत्य की पुष्टि करती है। यह कहना अनुचित नहीं है कि प्रत्येक समय और समाज में संस्कृति और लोक संस्कृति की अन्तर्धाराएं आपस में टकराती रही हैं, किन्तु इस टकराहट की स्थिति में शास्त्रमत की अपेक्षा लोकमत को ही महत्व मिलता रहा है। इससे सहज ही लोक-संस्कृति और लोक साहित्य की उपयोगिता एवं मान्यता सिद्ध हो जाती है।

अंग्रेजी के फोकलोर एवं फोक लिटरेचर में जो अन्तर हैं, वहीं अन्तर लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य में भी समझना चाहिये। सोफिया बर्न ने फोकलोर (लोक संस्कृति) को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है- लोक विवास, रीति-रिवाज तथा प्रथायें और लोक साहित्य। इसी लोक साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीत, लोकगाथा, लोक-कथा, लोक नाट्य, लोक सुभाषित, लोकोक्तियां, मुहावरें और सूक्तियां सम्मिलित हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि लोक-साहित्य के अध्ययन के लिये, लोक संस्कृति को जानने समझने के लिये लोक साहित्य का और लोक साहित्य के अध्ययन के लिये लोक संस्कृति का विवेचन जरूरी हो जाता है। “लोक साहित्य लोक संस्कृति का अभिन्न अंग है। इसके अभाव में लोक संस्कृति का अध्ययन अपूर्ण ही माना जाता है।”⁶

जहां तक साहित्य और लोक साहित्य का प्रश्न है- साहित्य में अभिव्यक्त होने वाली आकांक्षाएं स्वप्न, सौन्दर्य और संघर्ष समूह विविध के होते हैं, जिसे कोई लेखक, कवि रचता है, किन्तु लोक साहित्य में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक चेतनाओं की जो विरलधारा प्रवाहित होती है, वह सम्पूर्ण जनसमुदाय की होती है, समूह विविध की नहीं। क्योंकि लोक साहित्य का रचयिता कोई व्यक्ति न होकर सम्पूर्ण जन-समुदाय होता है। यह भी होता है कि किसी व्यक्ति विविध के कंठ से फूटी संवेदना की अन्तर्धारा सम्पूर्ण समुदाय द्वारा अपना ली जाती है और वह व्यक्तिगत साहित्यिक धरोहर सामुदायिक सम्पत्ति में बदल जाती है। यही वजह है कि लोकगीत और लोकगाथाओं के रचयिताओं का नामोल्लेख नहीं मिलता। जबकि आभिजात्य साहित्य के सन्दर्भ में किसी भी समाज की संरचना पर विचार करते समय समाज की दो संरचनाएँ दिखलाई पड़ती हैं- पहली स्थूल

संरचना और दूसरी भाव-संरचना। समाज की स्थूल संरचना तो दृष्टिगोचर होती है किन्तु भाव-संरचना अमूर्त होने के कारण सामान्य तौर पर अलक्षित ही रहती है। भाव-संरचना को देखने के लिये सामान्य दृष्टि की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है, जो साहित्य के पास होती है। इसी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से साहित्यकार मानवीय भावनाओं, अनुभवों, आशाओं और आकांक्षाओं का रागात्मक भाषिक प्रकटीकरण करता है। इस तरह साहित्य का समाज से जो संबंध होता है वह अन्तःचेतना के स्तर पर होता है, न कि बाह्य संरचना से। इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी का कथन उद्धृत करना प्रासंगिक होगा कि "जबकि किसी भी देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है।" अतः समाज की स्थूल संरचना पर रचा गया साहित्य अन्ततः फोटोग्राफी मात्र होगा, साहित्य नहीं, क्योंकि साहित्य का सामाजिक सरोकार समाज के स्थूल चित्रण मात्र में न होकर सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापनाओं में अन्तर्निहित होता है। जैसा कि नामवरसिंह जी अपने वाचिक वक्तव्य में कहते हैं कि— "किसी सामाजिक समूह की आवश्यकताएँ असम्बद्ध होती हैं, बिखरी हुई होती हैं, अस्पष्ट होती हैं। लगता है कि कुछ होना चाहिये। कुछ कमी है, लेकिन वह कमी क्या है? और कभी-कभी कमी का तो पता चलता है, लेकिन क्या होना चाहिए, यह मालूम नहीं होता। इसलिये अभाव का तो पता होता है लेकिन उस अभाव की पूर्ति किस रूप में हो, इसका पता नहीं होता। इसलिये बड़ा लेखक विचारक इन रिक्त स्थानों को पूरा करके, टूटे हुए सूत्रों को जोड़कर एक व्यवस्थित ढांचा खड़ा करता है। और वह व्यवस्थित ढांचा एक नाटक के रूप में, एक उपन्यास के रूप में एक प्रबंध-काव्य के रूप में, एक लम्बी कविता के रूप में व्यक्त किया जाता है।" कहना चाहिये कि साहित्य केवल मानवीय भावों, अनुभवों, आवश्यकताओं, आकांक्षाओं को ही चित्रित नहीं करता, बल्कि युगीन परिस्थितियों के अनुरूप नये मूल्यों का सृजन भी करता है। मुख्यतया यही साहित्य का अभीष्ट भी होता है। इस तरह साहित्य और लोक-साहित्य के मूल में यही अन्तर दृष्टिगत होता है।

जहाँ लोक साहित्य के सामाजिक सरोकार का प्रश्न है। लोक साहित्य में समय और समाज में व्याप्त विसंगतियों, दुःखों, दुस्वप्नों और संघर्ष की पड़ताल ही संभव नहीं होती है, बल्कि ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी मिलती है और यह आज की परिस्थिति में महत्वपूर्ण स्पेस है, क्योंकि "समय की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर परिवर्तन" मिलता की गूँज लोक साहित्य में होती है। "प्रो० बदीनारायण अपनी पुस्तक 'लोक संस्कृति और इतिहास' में लोक साहित्य के लिये 'लोकप्रिय साहित्य' की संज्ञा देते हुए लोक साहित्य को और भी आगे ले जाकर ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिये महत्वपूर्ण टूल्स मानते हैं "किन्तु लोक संस्कृति के कार्यकर्ताओं ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। इन्होंने इतिहासकारों और समाज वैज्ञानिकों के अध्ययन के लिये सामग्रियाँ उपलब्ध कर दीं। जबकि यह सार संकलन लोक संस्कृति के विना समुद्र का मात्र

एक बूंद भर था, किन्तु फिर भी इससे इतिहासकारों का ध्यान उस ओर जा सका।"⁹

अभी तक के ज्ञात एवं उपलब्ध इतिहास का आधार निसंदेह पुरातात्विक अवशेष या अभिजात्य वर्ग द्वारा रचित साहित्य रहा, जो राजा-महाराजाओं तक सीमित रहा है, जिसमें समाज का एक बड़ा हिस्सा पूरी तरह से छूट गया। इसलिये आज इस कमी को पूरा करने के लिये इतिहासकार भी लोकगीतों, लोक साहित्य की ओर देख रहे हैं। "लोक संस्कृतियाँ की तरह यूरोप के इतिहासकारों ने भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक विकास में क्षय होते जा रहे 'आदमी' व 'जन' की लोकप्रिय संस्कृति तथा परम्परा की खोज आरम्भ की। स्वीडि" इतिहासकार एरिक गुस्ताव गीजर ने लोकप्रिय कविताओं (लोक साहित्य) को लेकर इतिहास लेखन प्रारम्भ किया है।"¹⁰

भारतीय ग्राम्य जीवन में अक्षित कहे जाने जन समुदाय के पास अपने विरोध, संघर्ष, सुख-दुख, कला, संगीत, उत्सव, आदि की अभिव्यक्ति के लिये गीत, स्वांग, चित्र, आदि माध्यम आदिकाल से चले आ रहे हैं, और जो आज भी किंचित रूपान्तर के साथ लोक-संस्कृति में मौजूद हैं। इसलिये यह जरूरी है कि उपलब्ध एकांगी इतिहास की सम्पूर्णता के लिये लोक साहित्य महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करा सकता है। ऐसे समय में जब कि वैश्वक एवं भारतीय साहित्य में स्त्री-विमर्ष, दलित विमर्ष एवं आदिवासी-विमर्ष साहित्यिक आन्दोलन का रूप ले रहे हैं, लोक-साहित्य की अनिवार्यता महत्वपूर्ण हो जाती है। प्रो० बदीनारायण इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए लिखते हैं कि— "भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष जो आधुनिक भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण संघटना है, उसकी अनेक छवियाँ लोक-संस्कृति में मौजूद हैं। इनके अध्ययन की दो प्रक्रियाएँ हो सकती हैं—एक तो अपनी पूर्व निर्मित अवधारणा को लेकर लोक संस्कृति के पास जाया जाए तथा उसकी जन प्रामाणिकता ढूँढी जाय। द्वितीय, लोक संस्कृति के भीतर से ही अवधारणाएँ विकसित की जाएँ तथा उसे पूर्व निर्मित धारणाओं में मिलाया जाए। इस प्रकार 'वृहत् ऐतिहासिक सत्य' को प्राप्त किया जाये।"¹¹

यह बात किसी छिपी हुई नहीं है कि 1857 के गदर के चित्र अवधी, भोजपुरी, मैथिली, निमाड़ी, बुंदेली, आदि बोली-भाषा के लोक गीतों, मुहावरों और लोकावितियों में मौजूद हैं। भोजपुरी में 1957 के नायक बाबू कुंवर सिंह से संबंधित अनेक लोकगीतों का उल्लेख प्रो० बदीनारायण ने अपनी शोधपरक पुस्तक 'लोक संस्कृति और इतिहास' में किया है और सिद्ध किया गया है कि लोक साहित्य के माध्यम से 1857 के गदर का एक और प्रामाणिक इतिहास निर्मित किया जा सकता है।

"जब बढल कुँअरदल लक्षमनपुर से आगे, पथ गाँव-गाँव तरनाई जागल अनुरागे जागल बहार बा गाँव बहोरनपुर में लच्छू टोला, बारसीघा, सारंगपुर में संग लागल सुरेमनपुर, गठरा अगाराईल धनबाग पहरपुर के उमंग में आईल टाते करला जे दादा के गुरुद्वारा जहाँ समाधि कवि देवराम दुलारा।"¹²

इस लोकगीत में अंग्रेजों के विरुद्ध किये गये संघर्ष में उन गांवों का जिक्र किया गया है, जहां के नवयुवकों में विद्रोह की लहर उठी थी। मुलताई, पाण्डुरणा और उसके आसपास के क्षेत्रों की किसी ऐतिहासिक संदर्भ में बात न भी की जाये तो यहाँ प्रचलित लाकगीतों, लोक नाट्यों, धार्मिक गीतों में लोक जीवन कहीं व्यक्तिगत तो कई सामूहिक छवियाँ दिखाई देती रही है। कुछ समय पहले तक मराठी का 'तमा'गा 'पोवड़ा' 'भराड़' 'लावणी' ख्यात रहा है, जिसमें मानवीय संवेदनाओं को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता रहा है। गायखुरी के शाहिर श्री रामचन्द्र ढोके 'तमा'गा (गम्मत) में सामाजिक रि'तों को जोड़ते हुए गाते हैं - 'सौंसर बेरडी रामाकोन, जवळ ओह कच्छीढान, तेथे आहे माझा मामा, आनंदनान ऐजो मामा माझ्या लग्नाला। रानी मैनावती नाम का पोवाड़ा तो इतना चर्चित हुआ करता था कि हर तमा'गा में शाहिर से इस पोवाड़े के गायन की मांग की जाती रही है। इसी तरह ढंढार नामक सांगीतिक लोक नृत्य का लोकगीत 'बड़ौदा शहर बड़ा बाका, बीच में पुलिस का नाका' इस ओर संकेत करता है कि कभी इस क्षेत्र के पुरखें आवागमन एवं भौगोलिक ज्ञान के अभाव के दिनों में भी बड़ौदा शहर तक काम की तला'गी में जाते रहे हैं। ग्रामीण जीवन में महादवजी के धार्मिक गीत 'गढ़ा खाली अढ़ हो देवा ग माया, गढ़ा खाली अढ़ गा, गढ़ा खाली अढ़, पानी भरे गिरिजा नार' में शंकरजी की दूसरी पत्नी के रूप में गिरिजा का उल्लेख मिलता है, जबकि अभिजात्य संस्कृति में 'सती' एवं 'पार्वती' का नाम आता है। इसी तरह देवी-देवता, पूजा-अर्चना, विवाह, जन्मोत्सव से लेकर मृत्यु तक अभिजात संस्कृति के समानान्तर लोक संस्कृति की अविरल धारा लोक साहित्य में प्रवाहित होती रही है, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक एवं ऐतिहासिक मटेरियल है। इतना ही नहीं लोक साहित्य में प्रयुक्त मिथकों और बिम्बों की पृथक अर्थवत्ता है, जो समय के उस धरातल पर ले जाती है, जहाँ कल्पना'गीलता नहीं, वरन् समय की सच्चाई उजागर होती है, हालांकि इसके विस्तार के लिये यहाँ अवका'गी नहीं है।

अन्ततः लोक साहित्य की महत्ता केवल सामाजिक सरोकारों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वै'विक

एवं भारतीय परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य की भूमिका ऐतिहासिक प्रामाणिकता को समय की कटौती पर परखने वाले जौहरी की समान है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि लोक साहित्य की विविध रूपों यथा-लोक-कथा, लोक-गीत, लोक-नाटकों में लोक जीवन का केवल सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्'निक और आर्थिक पक्ष ही रेखांकित नहीं है, बल्कि लोक जीवन का वह ऐतिहासिक पक्ष भी मौजूद है, जिसपर अभी पर्याप्त रूप से विचार होना बाको है। प्रस्तुत आलेख के माध्यम से इस दि'गा में कुछ के उदाहरणों के माध्यम से केवल संकेत किये गये हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ० अमरनाथ 'हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली' राजकमल प्रका'गन, नई दिल्ली पृ० 316
2. कृ'णदेव उपाध्याय-'लोक संस्कृति की रूप रेखा' लोकभारती प्रका'गन, इलाहाबाद पृ० 04,
3. कृ'णदेव उपाध्याय-'लोक संस्कृति की रूप रेखा' लोकभारती प्रका'गन, इलाहाबाद पृ० 04-05
4. इंटरनेट वेब www.wikipedia.org
5. कृ'णदेव उपाध्याय-'लोक संस्कृति की रूप रेखा' लोकभारती प्रका'गन, इलाहाबाद पृ० 10
6. कृ'णदेव उपाध्याय-'लोक साहित्य की भूमिका' साहित्य भवन, इलाहाबाद पृ० 15
7. सं० नागेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास मयूर पेपरबैक नोएडा, पृ० 31
8. सं० कमला प्रसाद, 'वसुधा' अप्रैल-जून, 2002 अंक 54 भोपाल पृ० 20
9. बद्रीनारायण, लोक संस्कृति और इतिहास' लोकभारती प्रका'गन इलाहाबाद पृ० 17
10. -वही-
11. बद्रीनारायण, लोक संस्कृति और इतिहास' लोकभारती प्रका'गन इलाहाबाद पृ० 25
12. सर्वदेव तिवारी 'राके'गी-'कालजयी कुँवर सिंह' पन्द्रवा सर्ग, भोजपुरी अकादमी पटना पृ० 315